

---

## इकाई 3 धार्मिक सिद्धान्त की स्थापना में मीमांसा दर्शन का महत्त्व

---

### इकाई की रूपरेखा

- 3.0 उद्देश्य
- 3.1 प्रस्तावना
- 3.2 मीमांसा दर्शन का अर्थ एवं स्वरूप
- 3.3 मीमांसा दर्शन और कर्मकाण्ड के रूप में प्रयोग
- 3.4 धर्मशास्त्र में मीमांसा का महत्त्व
- 3.5 पूर्वमीमांसा की उपेक्षा-अपेक्षा
- 3.6 सारांश
- 3.7 पारिभाषिक शब्दावली
- 3.8 सन्दर्भग्रन्थ
- 3.9 बोध प्रश्न

---

### 3.0 उद्देश्य

---

इस ईकाई को पढ़ने के बाद आप—

- भारतीय संस्कृति में मीमांसा दर्शन के योगदान से परिचित हो सकेंगे।
- मीमांसा दर्शन के उन सिद्धान्तों से परिचित हो सकेंगे, जिनके द्वारा धार्मिक व्यवहारों की वैधता की जांच की जाती है।
- धर्म मीमांसा में मीमांसा दर्शन के उपयोग के महत्त्व से परिचित हो सकेंगे।
- धर्म मीमांसा से जुड़े प्रश्नों के निदान की दृष्टि को प्राप्त कर सकेंगे।

---

### 3.1 प्रस्तावना

---

धर्मशास्त्र वेद का अनुसरण करते हैं। वैदिक वाक्यों (वचनों, वक्तव्यों अथवा मूल पंक्तियों) की व्याख्या के लिए भी मीमांसा व्याख्या पद्धति का उपयोग धर्मशास्त्र के लेखकों ने अपनी समस्याओं से समाधान के लिए उनका प्रयोग किया है।)

मीमांसा का सम्बन्ध किसी राजा या किसी सार्वभौम लोकनीति सभा द्वारा स्थापित विधान नहीं है बल्कि यह धर्म (धार्मिक कृत्य एवं उससे सम्बन्धित विषय) का सम्यक् ज्ञान देने की बात करती है। धर्म ज्ञान का मूल वेद है तथा मीमांसा वैदिक यज्ञों की प्रक्रिया (इति कर्तव्यता तथा उनके सहायक एवं मुख्य विषयों को व्यक्त स्थित करना) वेद नित्य है, स्वयंभू है, यही धार्मिक विषयों का विवेचन करता है, वैदिक शब्दों के आशय से ही धर्म व्याख्यायित होता है।

1. वेद का कोई भी भाग अर्थहीन एवं उद्देश्यहीन नहीं है। मीमांसा दर्शन की मान्यत है कि
2. एक ही वाक्य में एक ही शब्द का प्रयोग दो अर्थों में नहीं होना चाहिए, अर्थात् मुख्य एवं गौण दोनों अर्थों में नहीं होना चाहिए दाय भाग में इस उक्ति का

सहारा लिया गया है। जब भाई बटवारा करते हैं तो याज्ञवल्क (2/123) की व्यवस्था है कि बंटवारा के समय माँ को भी पुत्र के बराबर ही भाग मिलता है। इस पर दाय भाग की टिप्पणी है कि 'माता' शब्द में यहाँ मुख्य अर्थ है— जननी (जन्म देने वाली), इस नियम का सम्बन्ध विमाता से नहीं है, क्योंकि एक ही वाक्य में मुख्य एवं गौड़ अर्थ में संयुक्त नहीं होती है।

### 3.2 मीमांसा दर्शन का अर्थ एवं स्वरूप

डॉ० राधाकृष्णन लिखते हैं कि इस दर्शन का नाम पूर्वमीमांसा इसलिये हुआ क्योंकि यह उत्तरमीमांसा (वेदान्त) का अपेक्षाकृत पूर्ववर्ती है, ऐतिहासिक कालक्रम की दृष्टि से उतना नहीं जितना कि तार्किक अर्थों में। इसका मुख्य विषय कर्मकाण्ड है, जैसे कि उत्तरमीमांसा का मुख्य विषय वस्तुओं का सत्यज्ञान प्राप्त करना है। उपनिषदों को छोड़कर, शेष समग्र वेद के विषय में यह कहा गया है कि वह धर्म अथवा कर्तव्य कर्मों का प्रतिपादन करता है, जिनमें मुख्य हैं यज्ञ। पवित्र क्रियाकलाप का अनुष्ठान ज्ञानोपार्जन की भूमिका है। शंकराचार्य भी, जो कर्म और ज्ञान के मौलिक विरोध पर बल देते हैं, इस विषय में सहमत हैं कि सुकर्म, चाहे वह इस जन्म में किया हुआ हो अथवा पूर्वजन्म में, सत्यज्ञान की प्राप्ति के लिये इच्छा उत्पन्न करता है। —(भारतीय दर्शन, भाग—द्वितीय, राजपाल एण्ड सन्स, 2016, पृ०—321)

पूजित विचार को मीमांसा कहा जाता है। वह दर्शन जिनमें पूजित विचारों का वर्णन हो मीमांसा दर्शन है। इस दर्शन के प्रतिपादक ऋषि जैमिनी हैं जिन्होंने मीमांसासूत्र लिखा। यह ग्रन्थ बारह अध्यायों में रचित है, जिसमें धर्म के विषयक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। यह दर्शन मुख्य रूप से धर्म के प्रतिपादन से सम्बन्धित है। मीमांसा दर्शन के पूर्व वेद का अध्ययन अपेक्षित है। जिसने वेद, वेदाङ्ग आदि का अध्ययन किया है, वही इस दर्शन का अधिकारी है। मीमांसकों का मत है कि धर्म वेद से ही ज्ञेय है, अन्य साधन (इन्द्रिय तथा प्रत्यक्ष, अनुमान आदि) से नहीं।

### 3.3 मीमांसा दर्शन और कर्मकाण्ड के रूप में प्रयोग

मीमांसा दर्शन मुख्यतः वैशेषिक दर्शन के भौतिक सिद्धान्तों को मानकर चलता है और ज्ञान के सिद्धान्त में मीमांसा दर्शन का मत न्यायवैशेषिक से पृथक् है। मीमांसा का मत है कि— वेद स्वतः प्रमाण है, इनके लिये किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। वेदों की प्रामाणिकता के लिये परमात्मा का आश्रय लेने की आवश्यकता नहीं है। सारा ही ज्ञान स्वतः प्रामाणिक है। धर्म का प्रत्यक्ष किसी अन्य प्रमाण के द्वारा नहीं हो सकता। धर्म कोई ऐसी स्थूल वस्तु नहीं है जिसका प्रत्यक्ष इन्द्रियों द्वारा किया जा सके। वेद—विहित ढंग से उसकी आज्ञाओं के अनुसार कर्मकाण्ड आदि करने से धर्म की उत्पत्ति होती है।

—(भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग—प्रथम, एस.एन. दासगुप्त, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2011, पृ०—376)

इस प्रकार धर्म अधर्म के ज्ञान के लिये शब्दप्रमाण ही मुख्य आधार है। शब्द प्रमाण के रूप में वेदमंत्रों के अर्थ में जहाँ संदेह है, उनको ठीक प्रकार से समझने के लिये मीमांसा दर्शन की आवश्यकता पड़ती है। वेदों की व्याख्या करते हुए मीमांसा दर्शन में वेदों को मंत्रों और ब्राह्मणों का संकलन कहा है। ब्राह्मण ग्रन्थ विधि (वैदिक ओदश) है। ये आदेश तीन प्रकार के हैं— 1. अपूर्व विधि, 2. नियम विधि, 3. परिसंख्या विधि।

अपूर्व विधि वह आदेश या विधि है, जिनका हमें कोई पूर्वज्ञान नहीं है और जिसे हम आदेश के कारण ही जान पाते हैं। उदाहरण के लिये जब यह विधि बतलाई जाए कि अक्षतों को धोकर प्रयोग में लाना चाहिए तो हमको इस आज्ञा से ही यह बोध होता है कि यह विधि आवश्यक है। 'नियम' विधि अनेक विकल्पों में एक निश्चित विधान स्थापित करती है। उदाहरण के लिये धान का छिलका कई विधियों में उतारा जा सकता है, यहां तक कि नाखून से भी छीला जा सकता है, परन्तु नियम-विधि में जो आदेश दिया गया है उसको हम पहले से जानते हैं पर हम उसे कई विकल्पों में से एक के रूप में जानते हैं। अतः नियम-विधि उनमें से एक चुनने का निश्चित आदेश देती है। 'अपूर्व विधि' उस विधि का आदेश देती है जिसका हमको कोई पता ही नहीं था और यदि यह आदेश ही नहीं मिलता तो वह विधि सम्पन्न ही नहीं होती। परिसंख्या-विधि वह विधि है, जो अनेक क्रियाओं में की जा सकती है, जिसकी हमको जानकारी है पर जो निश्चित प्रसंग में ही करना उचित है। उदाहरण के लिये मैं रास (लगाम) को ग्रहण करता हूँ (इमाम् अगृभ्णाम् रशनाम्) ऐसे अर्थ वाले मंत्र में किसी भी जानवर की रास को ग्रहण करने या पकड़ने का उल्लेख होता है पर परिसंख्या विधि के अनुसार गधे की रास पकड़ना निषिद्ध है, या गधे की रास को पकड़ते हुए इस मंत्र का पढ़ना वर्जित है।

वैदिक मन्त्र-वाक्यों की व्याख्या करने के तीन मुख्य सिद्धान्त हैं— 1. जब वैदिक मंत्रों के शब्द ऐसे हों कि उनकी एक साथ पढ़कर ही पूर्ण अर्थकी प्राप्ति होती है तो उसको एकसाथ पढ़ना और अर्थ करना उचित होता है। 2. यदि अलग-अलग अर्थवाक्यों का अर्थ स्पष्ट हो जाता हो तो उनको मिलाना या एक दूसरे के अर्थ के लिये संयुक्त करना उचित नहीं है, यह दूसरा सिद्धान्त है। 3. उन वाक्यों को जो स्वयं में पूर्ण नहीं है, या आधे वाक्य है, उनके लिये पूर्व वाले वाक्य से प्रसंगानुसार पूरक शब्दों को व्यवहार में लाकर अर्थ करना चाहिए।

धर्म का आधार विधि-विहित वेद-व्याख्या है। वेदों के सारे मन्त्रों को विधि-संहिता के रूप में हृदयंगम करना चाहिए। वेदों के सारे मन्त्र करणीय विधि के रूप में मानने चाहिए और इस आदेशात्मक दृष्टि से ही उनकी व्याख्या करनी चाहिए। जिन मंत्रों के द्वारा देवी-देवताओं की प्रशंसा और महात्म्य कहा गया है वे इन देवताओं की स्तुति और अर्चना की विधि है। इस प्रकार जो भी मंत्र विधि की प्रशंसा या अन्य वर्णन के रूप में मिलते हैं उनको भी विधि वाक्य के रूप में स्वीकार करना चाहिए अन्यथा उनको अवैदिक समझकर उनका परित्याग कर देना चाहिए। वेदों का महत्त्व इसी में है कि उनकी आज्ञा के अनुसार आचरण करते हुए धर्म को प्राप्त करें।

वैदिक विधि-विधान के अनुसार किए हुए यज्ञ के कारण एक अद्भुत-शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। यह शक्ति कर्म में अथवा कर्त्ता में सन्निहित होती है। इस शक्ति को ही 'अपूर्व' कहते हैं। यह यज्ञकर्त्ता को अभीष्ट फल देती है। इससे पुण्यों का संचय होता है। —(डॉ० गंगानाथ झा रचित 'प्रभाकर मीमांसा' और माधव-रचित न्यायमाला विस्तार)

धर्म के अनुष्ठान से चित्त शुद्धि होती है। चित्त शुद्धि से परमलाभ प्राप्त होता है। ये बातें वेद, स्मृति, पुराण आदि अनेक धर्म ग्रन्थों में प्रसिद्ध हैं। जब प्रश्न उठता है कि धर्म का लक्षण क्या है? तो इसका समाधान हमें मीमांसा दर्शन से प्राप्त होता है।

जैमिनि सूत्र पर शबरस्वामी (200 ई०) ने प्रसन्न गम्भीर भाष्य लिखा, जिसे शाबरभाष्य कहा जाता है। इसी शाबरभाष्य के भाष्यकारों में कुमारिल भट्ट और प्रभाकर प्रमुख हैं।

कुमारिल भट्ट ने शाबरभाष्य पर अपना वार्तिक लिखा, जिसके तीन भाग—श्लोकवार्तिक, तन्त्रवार्तिक तथा टुप्टीका है तथा प्रभाकर ने बृहती तथा लघ्वी नामक दो भाष्य लिखा। कालान्तर में मीमांसा के इन दोनों सम्प्रदाय के अन्तर्गत कई प्रतिष्ठित आचार्य हुए जिन्होंने इस दर्शन प्रणाली को समृद्ध किया।

यह धर्म लोक की सामान्य रुचि का विषय है। प्रत्येक व्यक्ति अपने आप धार्मिक बनने का प्रयत्न करता है और इसीलिए प्रत्येक सम्प्रदाय के शास्त्रकारों ने अपनी सफलता के लिये अनिवार्य रूप से इसका विवेचन किया है। कहीं यह धर्म कर्तव्य का अभिप्राय लेकर आता है— तो कहीं शिष्टाचार का। कहीं इसे भिन्न-भिन्न यज्ञ, अध्ययन-दान आदि क्रियाओं में विभाजित कर दिया गया है।

मीमांसकों के मत में ये ही यज्ञ याग धर्म हैं— जिनमें धर्म की सारी विधाओं का समावेश हो जाता है। स्वयं वेद ने उन्हें प्रथम धर्म के रूप में आहत किया है।

1. **प्रयोजनवान्** : इन सब तथ्यों से परिचित होते ही महामना महर्षि जैमिनि ने धर्म का उपर्युक्त लक्षणा किया है। फिर भी जैमिनि का यह धर्म सर्वथा अलौकिक होते हुए भी लौकिकता से परे नहीं है। प्रयोजनवान् होना धर्म के लिए आवश्यक है, क्योंकि मीमांसक इस बात से सुपरिचित हैं कि प्रयोजन के बिना कोई मूर्ख भी किसी काम में प्रवृत्त नहीं होता। इस प्रवृत्ति को कराने के लिए ही धर्म में इष्टसाधनता का प्रयोजन के रूप में होना आवश्यक माना गया है।
2. **वेदबोधिता** : प्रयोजनवत्ता के साथ-साथ धर्म के लिए दूसरी चीज जो आवश्यक समझी गई है— वह है— उसकी वेदबोधितता। यदि वेद-बोधितता को धर्म के साथ सम्बद्ध नहीं किया जायेगा, तो घड़ा और चैत्यवन्दन आदि भी धर्म होने लग जायेंगे, क्योंकि ये सभी प्रयोजन वाले हैं। तीसरा विशेषण जो धर्म के लिये अनिवार्य माना गया है।
3. **अर्थता** : अर्थता अर्थात् उसका अनर्थ के साथ सम्बन्ध न हो। यदि यह विशेषण नहीं लगायेंगे तो श्येन-त्याग आदि कर्म भी धर्म होने लग जायेंगे। संक्षेप में प्रयोजनवान् हो, वेद से विहित हो और अनर्थ से सम्बन्ध नहीं रखता हो— वही मीमांसकों का धर्म है, जो कर्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और जिसमें सबका समावेश हो जाता है। इसके ठीक विपरीत अधर्म है।

**प्रश्न** : धर्म के मामले में क्या प्रमाण है?

**उत्तर** : यह सब कुछ होने पर भी जैमिनि ने धर्म जैसी इस उच्च वस्तु को अंधविश्वास से सर्वथा दूर रखना चाहा और उस जैसे समीक्षा-शास्त्रों के लिये यह आवश्यक भी था। उसने इसी दृष्टि से कहा कि 'इस प्रकार के धर्म के निमित्त को भी परीक्षा करनी चाहिए। सब तरह के प्रमाणों के आधार पर उसे परख कर ही उसका अनुष्ठान करना चाहिए— अंधनुकरण द्वारा नहीं। इसी दृष्टिकोण के कारण धर्म के लिये भी प्रमाणों की अनिवार्य आवश्यकता हुई। धर्म जैसी इन्द्रियों की सीमा से समपेत वस्तु तक पहुँचने की क्षमता प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धि इन लौकिक प्रमाणों में नहीं है। मुख्य रूप से विधि, अर्थवाद, मन्त्र, स्मृति, आचार, नामधेय, वाक्यशेष और सामर्थ्य ये आठ प्रमाण धर्म में हैं।

### 1. विधि

वेद के सबसे उत्कृष्ट भाग के रूप में विधि को स्थान दिया गया है। यह विधि लिङ्, लेट-लोट और तव्य प्रत्यय इनसे अभिधीयमान अर्थ है। नैयायिक इसको

इष्टसाधनत्व कृतिसाध्यत्व, और बलवद निष्ठाननुबन्धित्व इन तीन रूपों में स्वीकार करते हैं और उनके मत में इन तीनों का एक ही साथ बोध होता है। इन सबका ज्ञान प्रवृत्ति के प्रति कारण है। अर्थात् कोई भी यदि किसी कर्म में प्रवृत्त होगा तो सबसे पहले वह यह देखेगा कि इस काम के करने से मेरा इष्ट सिद्ध होगा या नहीं। दूसरी बात यह देखेगा कि यह काम मैं कर भी सकूंगा या नहीं एवं तीसरी बात यह सोचेगा कि इसमें मेरे अनिष्टों को दूर करने की क्षमता है या नहीं। इन तीनों बातों का उचित समाधान होने पर ही कोई किसी कर्म में प्रवृत्त होता है। ये सब विधि के ही रूप हैं— जो प्रवृत्ति के प्रति कारण है। प्रवृत्ति के प्रति कारण होने ही के कारण विधि को प्रवर्तना कहा जाता है। उनके मत में ये सभी लिङ् के अर्थ हैं।

मीमांसक इनको इस रूप में स्वीकृत नहीं करते। उनका कहना है कि इष्टसाधनत्व, कृति साध्यत्व और बलवदनिष्ठाननुबन्धित्व ये तीनों ही लिङ् के अर्थ नहीं हैं। ये तीनों के बिना ही लिङ् के बताये हुए स्वतः आक्षिप्त हो जाते हैं। विधि वाक्य ने 'दर्शपूर्णमासम्यां स्वर्ग कामो यजेत' इस रूप में दर्शपूर्णमास का विधान किया। फिर इन तीनों ही का लिङ् के अर्थ के रूप में स्वीकृत किया जाना असंगत है। वस्तुतः प्रवर्तक पुरुष में रहने वाला 'यह इस काम में प्रवृत्त हो जाये' इस प्रकार का जो अभिप्राय है—वहीं लिङ् का अर्थ है।

इस प्रकार लिङ् लेट् तव्यप्रत्यय से अभिधीयमान यह अर्थ में प्रमाण है, क्योंकि इसके द्वारा अन्य प्रमाणों से अज्ञात और अलौकिक कल्याण के साधन यज्ञ का याग आदियों का विधान किया जाता है। इन यज्ञ और होम आदि में जो धर्मता है, वह क्रिया के रूप में न होकर उनके अलौकिक कल्याण के साधन के रूप में है और उनका यह रूप वैदिक शब्द के बिना और किसी भी प्रमाण से जाना नहीं जा सकता। अतः यही उनका सबसे प्रथम प्रमाणिक आधार है।

## 2. अर्थवाद

वेद का दूसरा भाग अर्थवाद है। ये अर्थवाद विधेय अर्थ की स्तुति कराते हुए प्रमाण बनते हैं। उदाहरण के लिये 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' (जो ऐश्वर्य चाहता है, वह वायव्य याग करे)। इस वाक्य के द्वारा वायव्य याग का विधान किया गया। इसके अनन्तर इसके समीप में 'वायु तेज चलने वाली देवता है, वही इसको ऐश्वर्य की प्राप्ति कराती है'। यह वाक्य श्रुत है। उसका यदि यह मुख्य अर्थ हो ग्रहण किया जायेगा, तो वह सर्वथा असंबद्ध प्रलाप होने के कारण अनर्थक होने लग जायेगा। क्योंकि हम तो यह पहले ही प्रतिज्ञा कर चुके हैं कि जो वाक्य किया या उससे सम्बन्धित अर्थ का ज्ञान करायेगा, वही प्रमाण है, शेष नहीं।

3. वेदार्थ — निर्णय तथा धर्मशास्त्र में मीमांसा का महत्त्व : विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ त्रगादि वेद हैं। प्रत्येक तत्त्व जिज्ञासु वेदों की तह में पहुँचने का प्रयत्न सदैव से करता आया है। वेदों के अर्थों का निर्णय जो व्यक्ति काव्य—कोषादि के बल पर करना चाहता है, उसका यह साहस मात्र ही कहा जायेगा। वेदार्थ का परिष्कृत स्वरूप तभी निखर सकता है, जबकि मीमांसा का पूर्णतया आश्रय लिया जाय। कुमारिलभट्ट जैसे विशिष्ट विद्वान् वेदार्थज्ञान के लिए मीमांसा के महत्त्व पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। उनका कहना है कि मीमांसा के व्याख्यान में प्रवृत्ति का मुख्य कारण वेदार्थज्ञान के वास्तविक स्वरूप का परिचय प्राप्त करना और कराना

ही है। वेदार्थज्ञान में तृष्णातीव विजृम्भते (श्लो० वा० १ पृ० ३ चौ० सं०) अर्थात् वेदार्थज्ञानरत्न की प्राप्ति के लिए मीमांसा एक प्रधान साधन है। साधारण विद्वान् विविध वैदिक विषय-विवेचन के चक्कर में पड़कर यह भूल जाता है कि वेद का प्रधान विषय क्या है? किसी दूसरे दार्शनिक ने यह प्रयत्न नहीं किया कि उनके अध्ययन से वैदिक विषयों का ज्ञान हो। एकमात्र मीमांसा ने वेद के शब्द से लेकर अर्थ तक के प्रत्येक विषय पर पुष्कल प्रकाश डाला है। इतना ही नहीं, यदि मीमांसा का सराहनीय प्रयत्न न हुआ होता तो वेदों को ही आज के लोग किस्से-कहानी और कुछ असम्बद्ध प्रलापों का संग्रह मात्र मानते। मीमांसा-अनभिज्ञ अपने को दार्शनिक कहलाने वाले पाश्चात्य एवं कुछ प्राच्य लोगों ने भी वैसा ही कह दिया है। समय के प्रभाव से मीमांसा का विरल प्रचार होने के कारण वैदिक विद्वानों की विरलता इतनी हो गई है कि इस समय यह कहने की आवश्यकता नहीं कि भारत में और उसी भारत में जहाँ कि पग-पग पर वैदिक विद्वानों का जमघट रहा करता था, वहाँ इने-गिने विद्वान् रह गये हैं। मीमांसा का अध्ययन करने यदि वैदिक धरातल पर कोई उतरा होता तो इस समय भी वैदिक विद्वानों की कमी न होती। मीमांसा-सागर की दुरवगाहता ने साधारण विद्वानों का साहस तोड़ दिया, जिससे मीमांसा ज्ञान से वंचित रहकर वेदार्थज्ञानरत्न को प्राप्त न कर सके। स्मृतिकारों ने मुक्तकण्ठ से यह माना है- 'यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्म वेद नेतरः' 'मीमांसासम्मित स्तर्कः' सर्ववेदप्रवर्तकः। मीमांसा ने वेद का तात्पर्य इतिहास, भूगोल, आचार या सामाजिक व्यवहार के प्रकाश मात्र में न मानकर धर्म जैसे महत्त्व के विषय-विवेचन में माना है। वस्तुतः वेदों की गरिमा भी इसी में है कि जनसाधारण की पहुँच के बाहर तथा दुर्लभ और अज्ञात विषयों का निरूपण करे। जनसाधारण में प्रसिद्ध जो धर्म है, वही धर्म है वेदार्थ है अथवा उससे भिन्न? मीमांसा ने भली प्रकार दर्शाया है कि वेद के सीधे-साधे सरल वाक्य कितना गंभीर तात्पर्य रखते हैं यह एकमात्र मीमांसा-संस्कृत व्यक्ति ही समझ सकता है। जैसे 'अग्निमीडे पुरोहितम्' वाक्य में अग्नि की चर्चा मात्र कर दी है, किन्तु अग्नि का स्वरूप क्या है और उसके कितने भेद हैं? किस अग्नि के आश्रित कौन कर्म हैं? आदि विषयों की व्यवस्था और श्रृंखला मीमांसा ने तैयार की है। जैसे बहुत से मूलग्रन्थों को सुव्यवस्थित करने का श्रेय पटुतम व्याख्याताओं को मिलता आया है, वैसे ही निर्भीक शब्दों में यह कहा जा सकता है कि वैदिक विषय को सरल एवं सुव्यवस्थित बनाकर वेदों को सर्वोपरि महत्त्व देने का श्रेय मीमांसा को प्राप्त है। ऋगादि वेद परस्पर असम्बद्ध और बिखरे-से प्रतीत होते हैं, उनमें सम्बन्ध और सुश्लिष्टता मीमांसा ने ही स्थापित की। अन्य दर्शनों का एक साधारण विद्वान् यह नहीं बतला सकता कि इषेत्वा, ऊर्जेत्वा, अग्निमीडे पुरोहित् आदि का सम्बन्ध और रहस्य क्या है? किन्तु मीमांसा का एक साधारण छात्र भली भाँति इसे जानता है। अतः वेदार्थ का पूर्णतया असन्दिग्ध रहस्य मीमांसा पर ही निर्भर है। अथातो धर्मजिज्ञासा सूत्र में मीमांसा का प्रयोजन धर्म का निर्णय करना ही जैमिनि ने बतलाया है। इस सूत्र में धर्म शब्द का अर्थ वेदार्थ ही है, ऐसी व्याख्या करके प्रभाकर मिश्र ने यह स्पष्ट कर दिया है कि वेदार्थ-निर्णय मात्र ही मीमांसा का एक मात्र उद्देश्य है। न्यायदर्शन का प्रमाण-निरूपण वैशेषिक का पदार्थ-विश्लेषण, सांख्ययोग का प्रकृति-पुरुष-विवेचन एवं वेदान्त का ब्रह्मज्ञान के प्रतिपादन में जितना महत्त्व है, उससे भी अधिक महत्त्व मीमांसा का वेदार्थ-प्रतिपादन में है। सभी विद्वान् यह जानते हैं कि दूसरे दर्शन अपने मुख्य उद्देश्य से भिन्न विविध पदार्थों के निरूपण में जितने व्यग्र हैं, उतने अपने मुख्य लक्ष्य के प्रतिपादन में नहीं हैं, किन्तु

मीमांसासूत्र का विशाल कलेवर एकमात्र वेदार्थ-निर्णय में ही संलग्न है। जहाँ वेदान्तदर्शन का एकमात्र प्रथम समन्वयाध्याय ब्रह्मज्ञानपरक है, वहाँ मीमांसादर्शन के पूरे बारह अध्याय धर्मसमन्वय या वेदार्थप्रतिपादन में समन्वय के प्रकाशक हैं। इसीलिए मीमांसा सूत्रकार को इतना समय न रहा होगा कि वे सृष्टि-प्रलय, आत्मा-परात्मा के उलझन में पड़ते। उनके सामने वेदार्थ के वास्तविक स्वरूप को निखारना ही एकमात्र उद्देश्य था। उसकी सिद्धि में वे शप्रतिशत सफल हुए। यद्यपि सृष्टि-प्रलय, आत्मा-परात्मा भी वेदार्थ की कक्षा से बाहर नहीं हैं, तथापि यज्ञयागोपयोगी वेदार्थ को ही सम्भवतः धर्म शब्द से लिया गया और उसी के प्रकाश से प्रकाशित सभी पदार्थों को ऋषि ने देख लिया था। शास्त्रों के दो भेद परिलक्षित होते हैं— एक वे जिनके अध्ययन — अध्यापन से प्रवचन-कौशल मात्र प्राप्त होता है और दूसरे शास्त्र वे हैं, जिनके अध्ययन से कर्तव्यानुष्ठान में प्रवृत्ति होती है। मीमांसादर्शन कर्तव्यपराणता की ओर बालक से लेकर वृद्ध तक अपने सभी अधिकारियों को ऐसा प्रवृत्त करता है कि उनका एक क्षण भी वेदार्थानुष्ठान के बिना नहीं रह सकता। ब्रह्मज्ञान अनुष्ठेय नहीं हैं, अतः उसके प्रकाशन की आवश्यकता मीमांसादर्शन को नहीं हुई होगी। इसलिए वेदार्थ-प्रकाशन के अतिरिक्त मीमांसा ने अपने क्षेत्र को विस्तृत नहीं किया वेदाभाष्यकार सायण ने ऋगादि वेदों के व्याख्यान में पग-पग पर मीमांसा का उपयोग होता दिखलाया है। सनः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव। स च स्वा नः स्वस्तये ॥ (ऋ० सं० १, अ० १, सू० २, ऋ० १)। इस प्रसंग में 'शास्त्र' को देवतास्मरण रूप संस्कार कर्म अथवा अदृष्टफलक प्रधान कर्म समझा जाय, ऐसा विचार प्रस्तुत कर मीमांसा के नियमों को लगाकर सिद्ध किया कि यह प्रधान कर्म है। इसी तरह तैत्तिरीयब्राह्मण प्रथमकाण्ड-प्रथम पाठक के पंचम अनुवाद में विचार उपस्थित किया गया है कि पवमानेष्टि से आहवनीयादि अग्नियों के संस्कृत होने पर दर्शपूर्णमासादि कर्मों का अनुष्ठान किया जाता है। उसी तरह पवमानेष्टियों का भी उसी संस्कृत अग्नि में अनुष्ठान होना चाहिए। तब सिद्धान्त किया कि असंस्कृत अग्नि में ही उनका (पवमानेष्टि) अनुष्ठान होगा। इस तरह दसवें अध्याय के द्वितीय पाद के विचार का उपयोग यहाँ किया गया है।

### 3.4 धर्मशास्त्र में मीमांसा का महत्त्व

धर्मशास्त्रकारों ने वेदविहित एवं मीमांसा परिशोधित धर्मस्वरूप का प्रतिपादन निर्भीक रूप से किया है। मूल ग्रंथकार तो केवल मीमांसा, मीमांसन्ते आदि शब्दों का प्रयोग कर चलते बने। किन्तु टीकाकारों ने मीमांसा का उपयोग अथवा स्पष्टीकरण यत्र-तत्र किया। श्रौतकर्मों के प्रतिपादन में किसी भी ऐसे धर्म का विधान नहीं किया गया जो मीमांसा के विरुद्ध हो। कहीं-कहीं मीमांसान्याय का स्पष्ट प्रतिपादन भी किया गया है, जैसे जीमूत-वाहन-कृत दाय भाग (अ० ११, परि० ५, खं० १६, पृ० ३१०, जी० वा० दा० प्रसन्न कुमार ठाकुर संपादित, कलकत्ता शक १७८५) में द्वयोः प्रणयन्ति अधिकरण का उल्लेख मिलता है। तथापि मूल ग्रंथकारों की अपेक्षा व्याख्याकारों ने मीमांसा का उपयोग अधिक किया है। मदनरत्न में निर्दिष्ट भविष्यपुराण में बतलाया गया है— क्षमा, सत्य भाषण, दया, दान, स्वच्छता, इन्द्रियनिग्रह, देवपूजा, अग्निहोम, सन्तोष, चोरी न करना ये दस धर्म सामान्यतः सभी व्रतों के लिए हैं। इस पर वर्धमान का कहना है कि उपर्युक्त सभी शब्द से भविष्यपुराणोक्त व्रतों को ही समझना चाहिए। अन्य व्रतों में यदि होम का विधान हो तो उसे करे न हो तो न करे। यही कारण है कि एकादशीव्रत में शिष्ट लोग हवन नहीं करते। इस पर कमलाकरभट्ट सभी शब्द का रहस्योद्घाटन

वाक्य किसी प्रकरण में पठित नहीं है, तब जिन पशुयाग, मित्रविन्दादि इष्टियों के प्रकरण में पठित सप्तदशसामिधेनी बोधक वाक्य हों, उनके साथ एकवाक्यता को पा लेने से पशुयाग प्रकरण के सप्तदश सामिधेनी के वाक्यों से उपर्युक्त प्रकरणरहित सामिधेनी वाक्य का उपसंहार कर लिया जाता है, वैसे ही विशेष व्रत में बतलाये गये होमविधायक वाक्यों से इस वाक्य का भी उपसंहार (संकोच) किया गया है। अतः वर्धमान का कथन ठीक नहीं। इसी सामिधेन्यधिकरण (मी0 3/6/2) का व्यावहारिक धर्म में महत्त्वपूर्ण उपयोग इस प्रकार किया जाता है— समाज में प्रायः देखते हैं कि लोग वसीयतनामा लिख जाते हैं। एक पुरुष जिसके दो नाबालिग पुत्र हो वह लिखता है कि मेरी मृत्यु के उपरान्त मेरी स्थावर सम्पत्ति की मालिक मेरी स्त्री होगी और जब लड़के बालिग हो जायेंगे तो यही उसके मालिक रहेंगे। इस लेख में स्त्री को मालिक बतलाया गया है। इससे सन्देह होता है कि क्या स्त्री उस धन की वास्तव में मालिक अर्थात् स्वामिनी है? दूसरे शब्दों में क्या वह स्त्री उस सम्पत्ति को अपनी इच्छा के अनुसार विक्रय कर सकती है? शास्त्र में तो स्त्री को स्थावर धन के विक्रय का अधिकार नहीं है। तो क्या इस लेख में मालिक कहे जाने के आधार पर वह शास्त्रीय नियम का उल्लंघन कर सकती है? इस प्रकार का सन्देह होने पर यहाँ मीमांसा के अनुसार यह व्यवस्था करनी पड़ेगी कि स्त्री को मालिक कहने का अभिप्राय यह है कि तब तक लड़के बालिग न हो जायें, वह स्थावर सम्पत्ति की देखरेख यानी पूरी तरह से रक्षा करे। दूसरे शब्दों में भाव यह है कि स्त्री के साथ मालिक शब्द का अभिप्राय मैनेजर (प्रबन्धकर्त्री) से है, और लड़कों के लिए मालिक शब्द का अर्थ स्वत्वाधिकारी अर्थात् स्वामी है। एक स्थान में मालिक शब्द अपने पूर्ण अर्थ का बोध कराता है, तो दूसरे में उसका अर्थ प्रकरण तथा शास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार संकुचित किया गया है। यदि दिग्दर्शन मात्र कराया गया है।

दूसरा उदाहरण पृथ्वीचन्द्रोदय में उद्धृत अग्निपुराण के व्रत प्रकरण में है विप्रा भोज्या यथाशक्ति तेभ्यो दद्याच्च दक्षिणाम् यहाँ विप्राः शब्द में यदि एकशेष समास करें तो विप्रस्त्रियां और विप्रपुरुष दोनों समझ लिये जा सकते हैं, किन्तु बिना प्रमाण के वह भी नहीं किया जा सकता। इसीलिए द्वयोर्यजमानयोः प्रतिपद कुर्यात् बहुभ्यो यजमानेभ्यः अर्थात् दो यजमान अथवा बहुत यजमान प्रतिपत् (शस्त्र नामक ऋचाओं में पहली ऋचा) को करे। यहाँ द्वित्व या बहुत्व का सम्पादन यजमान और उसकी स्त्री को लेकर नहीं किया जाता ऐसा आचार्य मीमांसाकार एवं महामीमांसक पार्थसारथि का भी कहना है। इसी प्रकार ब्राह्मणान् भोजयेत वाक्य में ब्राह्मण शब्द में श्रुत बहुवचन का अन्वय ब्राह्मण के ही साथ होता है, भोजन के साथ नहीं। अतः एक ही ब्राह्मण को बार-बार भोजन कराने से संकल्पित अनेक ब्राह्मण भोजन का सम्पादन होना नहीं कहा जाता यह सिद्धान्त किया है।

मीमांसारहित धर्मशास्त्र के भावों का ज्ञान उसी तरह है, जैसे बिना साधन की इष्ट-प्राप्ति। धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में परस्पर विरोधी बातें बहुधा आया करती हैं जिनकी व्यवस्था मीमांसा की सहायता से ही हो सकती है। अतएव मीमांसा को एक प्रकार से व्याख्या के नियम लाज आफ इण्टरप्रिटेसन कह सकते हैं।

### 3.5 पूर्वमीमांसा की उपेक्षा-अपेक्षा

प्राचीन काल से मीमांसा की उपेक्षा हुई है। दर्शनशास्त्र होते हुए भी उसमें आत्मा, ईश्वर, मोक्ष आदि तत्त्वों की उपेक्षा कर दी गई या इनको गौण बना दिया गया। धर्म या यज्ञ-याग और स्वर्ग को सर्वश्रेष्ठ मान लिया और प्रमाद तथा अल्प ज्ञानवस



यज्ञ-याग की समुचित व्याख्या नहीं की गई। सकाम कर्म से निष्काम कर्म एवं आत्मज्ञान श्रेष्ठ है, स्वर्ग से मोक्ष एवं आत्मा का अनुभव श्रेष्ठ है, उसपर ध्यान नहीं दिया गया। इन्हीं स्थितियों के परिप्रेक्ष्य में शंकराचार्य ने मीमांसा मत का खण्डन किया।

किन्तु स्वयं शंकराचार्य ने उपनिषद् वाक्यों के अर्थ गठन में असंख्य बार मीमांसा द्वारा प्रतिपादित अर्थ निधारण के निर्णयों का उपयोग किया गया है। हिन्दुओं के आचार, विचार, नियम, रूढ़ियां, पैत्रिक सम्पत्ति का अधिकार इत्यादि विषयों पर मीमांसा दर्शन में प्रभुत विचार किया है। मीमांसा श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र, मनुस्मृति आदि स्मृतियों का मूल स्रोत है।

मीमांसा-विद्वान् यज्ञ या पूजा के प्रसंग में वेदज्ञान समझा कर लोक-जागरण कर सकता है। गाँवों में, नगरों में यज्ञ-पूजा होते ही रहते हैं। अतः लोक-सम्पर्क का पूर्ण अवकाश है। इस प्रकार मीमांसा दर्शन कर्मकाण्ड पूजा की वास्तविक स्वरूप का उद्घाटन कर लोकजागरण के माध्यम से हिन्दू ज्ञानपरम्परा के अध्ययन में एक समर्थ माध्यम बन सकता है।

### 3.6 सारांश

किसी भी धार्मिक सिद्धान्त के तीन पक्ष होते हैं— 1. पौराणिक भाग, 2. कर्मकाण्ड भाग, 3. दार्शनिक भाग। दार्शनिक भाग तथा कर्मकाण्ड भाग का सैद्धान्तिक परीक्षण एवं पुष्टिकरण एक दार्शनिक क्रिया द्वारा की जाती है। वेद सम्बन्धी धर्मों की विवेचना एवं उसके तार्किक स्थापना मीमांसा दर्शन द्वारा की जाती है। मीमांसा दर्शन वैदिक सिद्धान्तों के क्रियापरक आदेशों/निषेधों के वैचारिक धरातल प्रदान करता है। इस ईकाई में हम मीमांसा में मीमांसा दर्शन के मूल प्रतिपाद्य से परिचित होते हुए उन सिद्धान्तों से धार्मिक सिद्धान्तों की परम्परा चलती रही है।

### 3.7 पारिभाषिक शब्दावली

**काम्यकर्म** : स्वर्गादि अभीष्ट स्थानों की प्राप्ति के साधन ज्योतिष्टोम आदि कर्म को 'काम्य' कर्म कहते हैं।

**नैमित्तिक** : नैमित्तिक पुत्र जन्माद्यनुबन्धीनि जातेष्टयादिनि आदि किसी निमित्त से सम्बन्धित कर्म को नैमित्तिक कर्म कहते हैं जैसे— जातेष्टि।

**उपासना** : 'उपासनानि सगुणब्रह्म मानस व्यापार रूपाणि'। राम, कृष्ण को विषय बनाने वाले मानसिक व्यापार को उपासना कर्म कहते हैं। जैसे— शाण्डिल्यविद्या।

### 3.8 सन्दर्भग्रन्थ

- 1 तत्त्व-सिन्धु, वर्ष-3, लक्ष्मेश जोशी का लेख, कुमारस्वामी फाउण्डेशन, लखनऊ
- 2 भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग-1, एस.एन. दासगुप्त, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर
- 3 मीमांसा-दर्शन, आचार्य पट्टाभिराम शास्त्री, मंडन मिश्र शास्त्री, रमेश बुक डिपो, जयपुर, 1955
- 4 मीमांसा-दर्शन-विमर्श, सोमनाथ नेने, प्रतिभा प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008

- 5 धर्मशास्त्र की इतिहास, भाग-5, डॉ. पी.वी. काणे, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 2014

---

### 3.9 बोधप्रश्न

---

- 1 हिन्दू दर्शन में धर्म एवं मीमांसा सम्बन्धी दार्शनिक सिद्धान्तों पर प्रकाश डालिये।
- 2 मीमांसा दर्शन के उन प्रमुख सिद्धान्तों पर प्रकाश डालिये।
- 3 हिन्दू धर्म दर्शन को समझना है, तो हमारे लिये मीमांसा दर्शन अपरिहार्य है, इस कथन की पुष्टि कीजिये।
- 4 मीमांसा दर्शन की लोकप्रियता में हुए ह्रास के कारणों की विवेचना कीजिए।



ignou  
THE PEOPLE'S  
UNIVERSITY